Research Papers

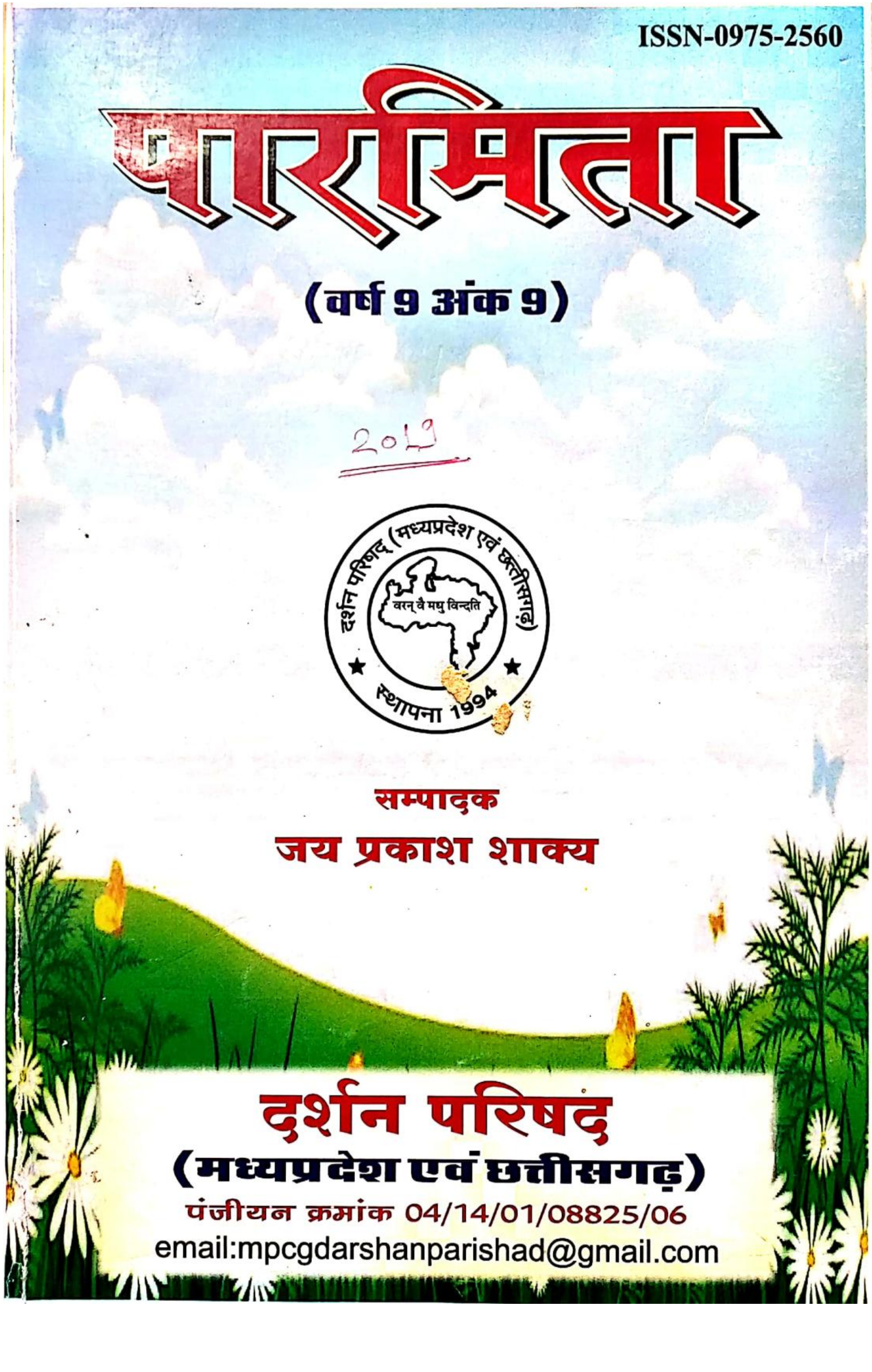

ISSN-0975-2560

पारमिता

(वर्ष 9 अंक 9)

2019

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)
वरन् वै मधु विन्दति
स्थापना 1994

सम्पादक

जय प्रकाश शाक्य

दर्शन परिषद्
(मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)
पंजीयन क्रमांक 04/14/01/08825/06
email:mpcgdarshanparishad@gmail.com

अनुशासन : एक दार्शनिक विश्लेषण

प्रो0 ए. पी. दुबे
विभागाध्यक्ष, दर्शन–विभाग,
पूर्व प्राक्टर,
डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

यदि हम दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो अनुशासन एक नैतिक मूल्य है जो मानव के सामाजिक, व्यक्तिगत, आध्यात्मिक पक्ष से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार कर्म सिद्धान्त ऋत् से संबंधित है वैसे ही अनुशासन को मानव जीवन में प्रकृति के अनुशासन के आदर्श उदाहरण को सामने रखकर धारित किया गया है। भारतीय सन्दर्भ में देखा जावे तो आश्रम व्यवस्थाओं विशेषकर ब्रह्मचर्य में अनुशासन का महत्त्व है। महाभारत का अनुशासन पर्व और बौद्धों का पंचशील अनुशासन से सम्बन्धित है। योग का तो प्रारम्भ ही **'अथ योगानुशासनम्'** से होता है, जो मोक्ष के लिए आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द की वाणी हो अथवा गांधीजी का स्वराज्य सभी अनुशासन की महत्ता को स्वीकार करते हैं। वैसे तो अनुशासन प्रत्येक आयु वर्ग के व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक है किन्तु यहाँ हमारा अभिधेय युवा वर्ग में वर्तमान परिस्थितियों में अनुशासन को लेकर है। योग में अनुशासन को शिष्ट का शासन निरूपित किया गया है।[1] पतंजलि के अष्टांग योग – यम और नियम, से प्रारम्भ होते हैं जिसके लिए मानसिक संयम और अनुशासन आवश्यक है। उन्हीं के बाद आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार नामक तीसरे, चौथे और पाँचवें चरण आते हैं। चित्त, असम्प्रज्ञात समाधि आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान हमें अनुशासन द्वारा सिद्ध होता है। अनुशासन प्रारम्भ में बलपूर्वक ही करना पड़ता है क्योंकि यह स्वेच्छित नहीं है किन्तु बाद में सहज हो जाता है।

यद्यपि भयवश स्वीकार किया गया अनुशासन अस्थायी होता है, क्योंकि वह भय समाप्त होते ही नष्ट हो जाता है।[2] इसका प्रमाण आपातकाल की शासन व्यवस्था है। स्थायी अनुशासन तो वह है जो भीतर से उत्पन्न होता है। अनुशासन प्रारम्भ में तो कठोर लगता है किन्तु उसका फल महान् बनाने वाला है। अनुशासन की विडम्बना यह है कि हम स्वयं अनुशासित रहना नहीं चाहते किन्तु दूसरों से अपेक्षा करते हैं कि वे अनुशासित रहें।[3] प्राचीन काल में गुरुकुल में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ऋषियों, गुरुओं द्वारा शिष्यों की शिक्षा–दीक्षा होती थी जिसमें पूर्ण अनुशासित जिम्मेदार नागरिक तैयार होते थे। इस प्रसंग में विश्वामित्र का उदाहरण देना समीचीन होगा। विश्वामित्र दशरथ से आग्रह कर राम को

साथ ले जाते हैं और कहते हैं 'दशरथ तुम मुझे राम दे दो। मैं तुम्हारा आर्यावर्त बचा लूँगा' यह वाक्य ऋषि की मंत्र ऋचा बन जाता है।[4] आश्चर्यचकित दशरथ जब इस बात को समझ नहीं पाते। तब वे अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहते हैं –'तरुणाई में प्रवेश करने वाले चारों राजकुमारों को शस्त्रों, शास्त्रों की अनुशासित दीक्षा दूँगा। उन्हें आत्मबल व बाहुबल की चेतना दूँगा ताकि वे आसन्न विपदा, दक्षिण से आ रही रक्ष संस्कृति का अपने विवेक और पराक्रम से सामना कर सकें। यह दीक्षा अनुशासन से ही सम्भव है और इस प्रकार गुरूकुल परम्परा एक जिम्मेदार नागरिक और आदर्श शासक तैयार करता था। यह विलक्षण निष्पत्ति है, इस प्रसंग की, कि तपोवन का ऋषि उसमें इतना सामर्थ्य और विवेक क्षमता थी कि वह 'शास्त्रों के साथ 'शस्त्रों का प्रशिक्षण देकर आने वाली पीढ़ी को पारंगत कर सकता है। यही हमारी सांस्कृतिक परम्परा है। उसमें व्यवधान या व्यतिक्रम (अनुशासनहीनता) विघटन का कारण बनता है।[5] मोटे तौर पर मानव जीवन को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम–बाल्यकाल या अर्जन और प्रशिक्षण काल, द्वितीय–यौवन या उपभोग अथवा संग्रहकाल, तृतीय–साधना और साक्षात्कार काल।[6] प्रथम बाल्यकाल जहाँ स्नेह और सहयोग पर आधारित है वहीं द्वितीयकाल साहस और सहकार पर आधारित है। यही से अनुशासन का संचार और अर्जन होता है जो तीसरे काल तक चलता है। अनुशासन का यह संग्रहण मनुष्य विशेषतः विद्यार्थियों के लिए मनोवांछित सफलता की कुंजी है।

वर्तमान में यह दृष्टिगोचर है कि विद्यार्थी व युवा अपने जीवन के आधारभूत सिद्धान्त अनुशासन से दूर होते जा रहे हैं जिससे अपसंस्कृति का वातावरण निर्मित हो गया है। इसका एक बड़ा कारण संचार माध्यम हैं, विशेषतः इलेक्ट्रानिक मीडिया अधिक उत्तरदायी है जिसने हमारे मूल्य, मर्यादा और नैतिकता के प्रतिमानों को ध्वस्त कर दिया है। स्वतन्त्रता का बोध पूरी तरह विकसित नहीं हो पाया और हमारी पीढ़ी उत्तरोत्तर स्वच्छन्द होती चली गई।[7] सिनेमा, विज्ञापन, चमकदार माडलिंग, नशीली दवाओं के बाजार आदि ने नवजवानों के समक्ष एक नया संसार खोल दिया। यह समस्या केवल भारत की नहीं अपितु कमोवेश सम्पूर्ण विश्व इससे प्रभावित है। कुछ स्वार्थी तत्त्व इस कार्य को प्रोत्साहित कर रहे हैं और रातों–रात धन व यश अर्जित करने की दौड़ में, 'शार्टकट' संस्कृति में शामिल हो गए हैं। इस समस्या के अनेक कारण हैं, कतिपय महत्त्वपूर्ण कारणों पर चर्चा हम यहाँ करना चाहेंगे। इन कारणों में शिक्षा की अहम् भूमिका परिलक्षित होती है।

SAMBODHI

Indological Research Journal of L.D.I.I.

VOI. XLI I 2019

EDITOR

JITENDRA B. SHAH

L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY
AHMEDABAD

ISSN No. – 2249-6661

रामायण का सत्य और महाभारत का धर्म

अम्बिकादत्त शर्मा

कोई भी महाकाव्य किसी संस्कृति और सभ्यता का एक वाङ्मय–विग्रह होता है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बड़े फलक पर जीवनानुभव का अवलोकन और अवगाहन है। यह अवगाहन बाह्य–दर्शक की भूमिका में न किया जाकर अंतरंग चित्तभूमि पर किया जाता है। इसी के चलते महाकाव्यों में इतिहास को सन्दर्भित करने वाले एक कथानक के माध्यम से सांस्कृतिक जीवन के अन्तर्विरोधों, अन्तर्द्वन्दों, जटिलताओं और इतिहास की प्रयोजनमूलकता का आदर्शोन्मुख समाधान उस संस्कृति की विश्वदृष्टि के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में सम्भव हो पाता है। अतः महाकाव्यों में एक आदर्शोन्मुखी जीवन–दृष्टि निरपवाद रूप से रूपायित तो होती है लेकिन उनकी आदर्श–चेतना एक जैसी हो, यह आवश्यक नहीं। यहाँ तक कि एक ही सांस्कृतिक परम्परा के दो या दो से अधिक महाकाव्यों की आदर्श–चेतना में गहरे भेद के लक्षण देखे जा सकते हैं। इस भेद का कारण महाकाव्यों के प्रस्थान बिन्दु का भिन्न–भिन्न होना है। वस्तुतः इसी भिन्नता में महाकाव्यों की निजी विशिष्टता निहित होती है। यह प्रस्थान–भेद तत्तद् महाकाव्यों के कथानक, इतिहास बोध और रचना काल से निर्धारित नहीं होती बल्कि उस आधारभूत मूल्यबोध से निर्धारित होती है जिसे नींव का पत्थर बनाकर महाकाव्यों में मूल्यव्यवस्था का एक प्रासाद, एक वाङ्मय–विग्रह तैयार किया जाता है। महाकाव्यों के नायकों के जीवन–चरित अथवा उनकी भूमिका के द्वारा जिस मूल्य या आदर्श को प्रतिष्ठापित किया जाता है, उसी से प्रस्थान–भेद को पहचानना सम्भव हो पाता है।

I

भारतीय परम्परा में रामायण और महाभारत वाल्मीकि और वेदव्यास रचित दो ऐसे महाकाव्य हैं जिनके माध्यम से दो युगों की आर्ष–संस्कृति अपनी सोलहों कलाओं के साथ वाग्–विग्रहित हुई है। वाणविद्ध क्रौंच मिथुन के शोक से निःसृत रामायण के चौबीस हजार श्लोक मानो **''सप्तभिर्युक्तं तंत्रीलयसमन्वितम्''** हैं।[1] महाभारत के विषय में स्वयं वेदव्यास ने कहा है– **''यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्''** अर्थात् जो महाभारत में नहीं वह कहीं भी

संयुक्तांक

वर्ष 33, अंक 2 जुलाई–दिसम्बर, 2019

वर्ष 34, अंक 1 जनवरी–जून, 2020

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाणमासिक

प्रधान–सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

सौगत प्रामाण्यवाद

अम्बिका दत्त शर्मा

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद के प्रश्न पर पहले मीमांसक और बाद में नैयायिकों ने जितनी गम्भीरता से विचार किया है उतनी गहराई से इस प्रकरण पर बौद्ध परम्परा में विचार नहीं हुआ है। इसका एक कारण बौद्ध प्रमाणमीमांसीय चिन्तन पर तत्त्वमीमांसा का वह अधिभार है जिसके चलते उनकी प्रमाणमीमांसा लोकाभिमुख कम और निर्वाणोन्मुखी अधिक रही है। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि बौद्धों ने इसे व्यवहार को इतना अधिक समर्पित प्रश्न माना कि तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा की अनुरूपता में इसकी व्याख्या करने की उन्हें आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई। बौद्ध परम्परा में तर्कपुंगव दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, दुर्वेक मिश्र, प्रज्ञाकर गुप्त, मोक्षाकर गुप्त, रत्नाकरशांति, रत्नकीर्ति और ज्ञानश्रीमित्र जैसे एक से बढ़कर एक प्रमाणमीमांसक हुए। इनके प्रभाव में भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन का अभूतपूर्व विकास हुआ है। परन्तु इनके ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद की चर्चा प्रसंगप्राप्त रूप से यत्किंचित् ही देखने को मिलती है। जबकि प्रामाण्यवाद को सुगठित रूप में प्रस्तुत करना किसी भी प्रमाणमीमांसा के लिए अपने पुरूषार्थ को प्राप्त करने जैसा होता है। शान्तरक्षित और कमलशील ही केवल इसके अपवाद कहे जा सकते हैं जिन्होंने क्रमशः 'तत्त्वसंग्रह' और 'तत्त्वसंग्रह पंजिका' में प्रामाण्यवाद के सभी विकल्पों पर बौद्ध दृष्टि से विचार किया है।[1] शान्तरक्षित वह पहले व्यक्ति हैं जो बौद्धेतर दर्शनों के प्रामाण्य सम्बन्धी विचारों को पूर्वपक्ष बनाकर उनका भूरिशः खण्डन करते हैं और प्रामाण्यवाद के बौद्धपक्ष को समीक्षित रूप से उद्घाटित भी करते हैं। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि दिङ्नाग से कमलशील पर्यन्त बौद्ध प्रामाण्यवाद के विकास की लम्बी यात्रा में उसका स्वरूप एकरेखीय नहीं रहा है। जबकि मीमांसक और नैयायिक अपने–अपने स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः प्रामाण्यवाद की दृढ़ धारणा से कभी विचलित होते

संयुक्तांक : उन्मीलन – वर्ष 33, अंक 2 एवं वर्ष 34, अंक 1, जुलाई 2019–जून 2020
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

सम्पादकीय

कोरोना संकट की आड़ में साभ्यतिक बदलाव की आहट

अम्बिकादत्त शर्मा, प्रदीप कुमार खरे

आज समूची दुनिया कोविड–19 नामक महामारी की चपेट में है। महामारियाँ तो पहले भी आती रही हैं और मनुष्य अपना बचाव करने में सफल भी होता रहा है। आशा है, इस बार भी कोरोना हारेगा और मनुष्य की जीत होगी। परन्तु हारा हुआ कोरोना इस बार जाते–जाते इतना तो जरूर कहता जायेगा कि मैं आधुनिक सभ्यता का वायरस हूँ और मेरे फलने–फैलने की बेशुमार सुचालकता उसकी रगों में है। अब यह मानव–जाति के विवेक पर निर्भर करता है कि वह आधुनिक सभ्यता के व्यामोह से निजात पाने का विकल्प ढूँढ़ेगा या फिर उसी के एक आभासी आयाम (वर्चुअल डायमेन्सन) को विकसित कर लेगा जो मेरी संक्रामक शक्ति की पकड़ से बाहर हो।

कोरोना वायरस की यह चेतावनी काल्पनिक ही सही लेकिन जायज है, क्योंकि इससे फैली यह महामारी वैसी नहीं जैसी कि पहले की महामारियाँ होती थीं। यह कई मायने में बिलकुल अलग प्रकार की है। इससे पहले की महामारियों को निरपवाद रूप से प्राकृतिक अशुभ (नेचुरल इविल) माना जाता था, लेकिन इसके पीछे ऐसी आशंका जतायी जा रही है कि यह नैतिक अशुभ (मोरल इविल) है। सम्भव है कि यह किसी दुष्ट मानवीय चेष्टा की सोची–समझी कारगुजारी हो। पहले की महामारियाँ तीव्र गति से मनुष्य को मृत्यु के कराल गाल में झोंक देती थीं और उनके फैलने की गति धीमी होती थी। परन्तु कोरोना वायरस मनुष्य को धीरे–धीरे मारता है और इसके फैलने की रफ्तार बहुत तेज है। यह जबकि वायुमण्डल पर सवार होकर बहुत दूर की यात्रा करने में सक्षम नहीं। पहले की महामारियाँ

ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

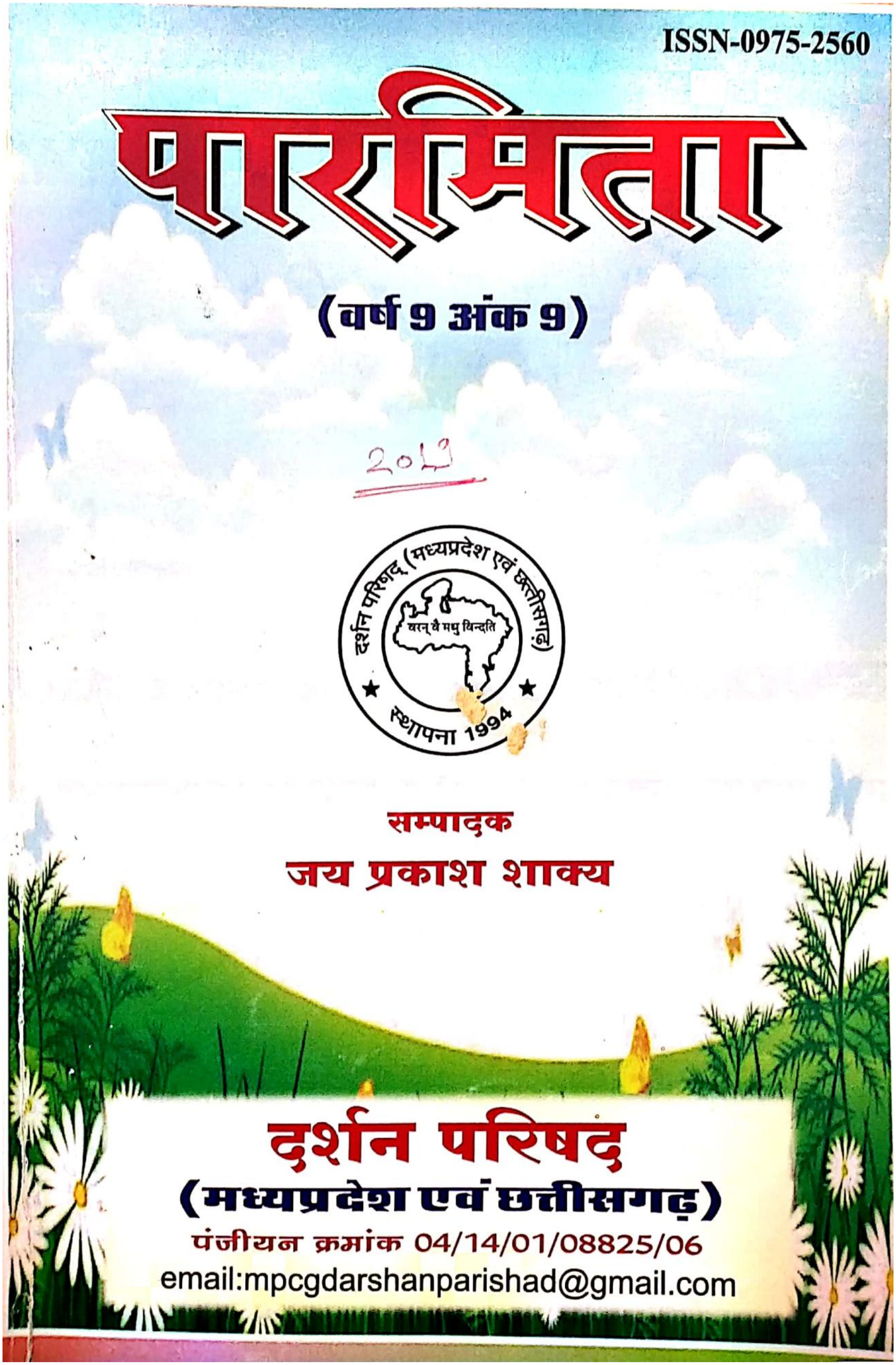

ISSN-0975-2560

पारमिता

(वर्ष 9 अंक 9)

सम्पादक

जय प्रकाश शाक्य

दर्शन परिषद
(मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

पंजीयन क्रमांक 04/14/01/08825/06

email:mpcgdarshanparishad@gmail.com

ISSN-0975-2560

पारमिता

(वर्ष 9 अंक 9)

सम्पादक

जय प्रकाश शाक्य

दर्शन परिषद

(मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

पंजीयन क्रमांक 04/14/01/08825/06

email: mpcgdarshanparishad@gmail.com

रामचरित मानस में राम तत्त्व

प्रो सविता गुप्ता
दर्शन शास्त्र विभाग,
डॉ.हरीसिंह वि.वि.
सागर म.प्र.

काव्य और दर्शन में साधनरत भेद होते हुए भी साध्यगम अभेद है। दर्शन की साधना सत्य साक्षेप और काव्य की सौन्दर्य साक्षेप है। दोनों की परिणति परमतत्व शिव की निर्विकल्प आत्मानुभूति में होती है जो एक साथ ही कवि और दार्शनिक दोनों का लक्ष्य है जिसका प्रकटन वेद और उपनिषदो में ब्रह्म पद से हुआ है। तुलसी उसे 'राम' पद से अभिव्यक्त करते हैं। नाम में भेद होने पर भी दोनों का निहितार्थ एक ही है। यदि कहा जाये कि वेदों का ब्रह्म और तुलसी के राम एक ही तत्त्व के दो नाम हैं, तो अतिशयाक्ति नहीं होगी। तुलसी ने वेद वर्णित ब्रह्म को रामचरित मानस के काव्य रस में घोल कर रामरूप में जनमानस के लिए अत्यंत सरल, सहज, सुगम और बोधगम्य बना दिया।

वेद और उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म का स्वरूप मुख्यतः पाँच पक्षों के आधार पर देखा जा सकता है–

1. एकत्व या अद्वयत्व– जो ब्रह्म के विभुत्व, सर्वव्यापकत्व और सर्वात्मकत्व का द्योतक है।
2. सत्व– इसमें ब्रह्म का नित्यत्व, अनादित्व, अनन्यत्व, अविकियत्व एवं सर्वधारत्व समाविष्ट है।
3. चित्व– यह ब्रह्म के ज्ञानत्व, प्रकाशत्व, स्वयंज्योति और सर्वावभासकत्व को इंगित करता है।
4. आनन्द– ब्रह्म का निरतिशयत्व रसतत्व और परमपुरूषार्थ रूप है।
5. निर्गुणतत्व– इसमें ब्रह्म का निर्विशेषत्व, निराकारत्व, निष्क्रियत्व, ,निर्विकल्पपत्व एवं शुद्धत्व आते हैं।

तुलसी के राम में इन सभी गुणों का समाहार पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही परमतत्त्व की शाब्दिक व्याख्या ब्रह्म और राम पर से की जा रही है। तुलसी के रामचरित मानस में राम के निराकार और साकार दोनों रूपों का निर्वचन मिलता है तुलसी राम के द्वारा ब्रह्मण्ड के परमतत्त्व के निर्गुण स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सृष्टि की

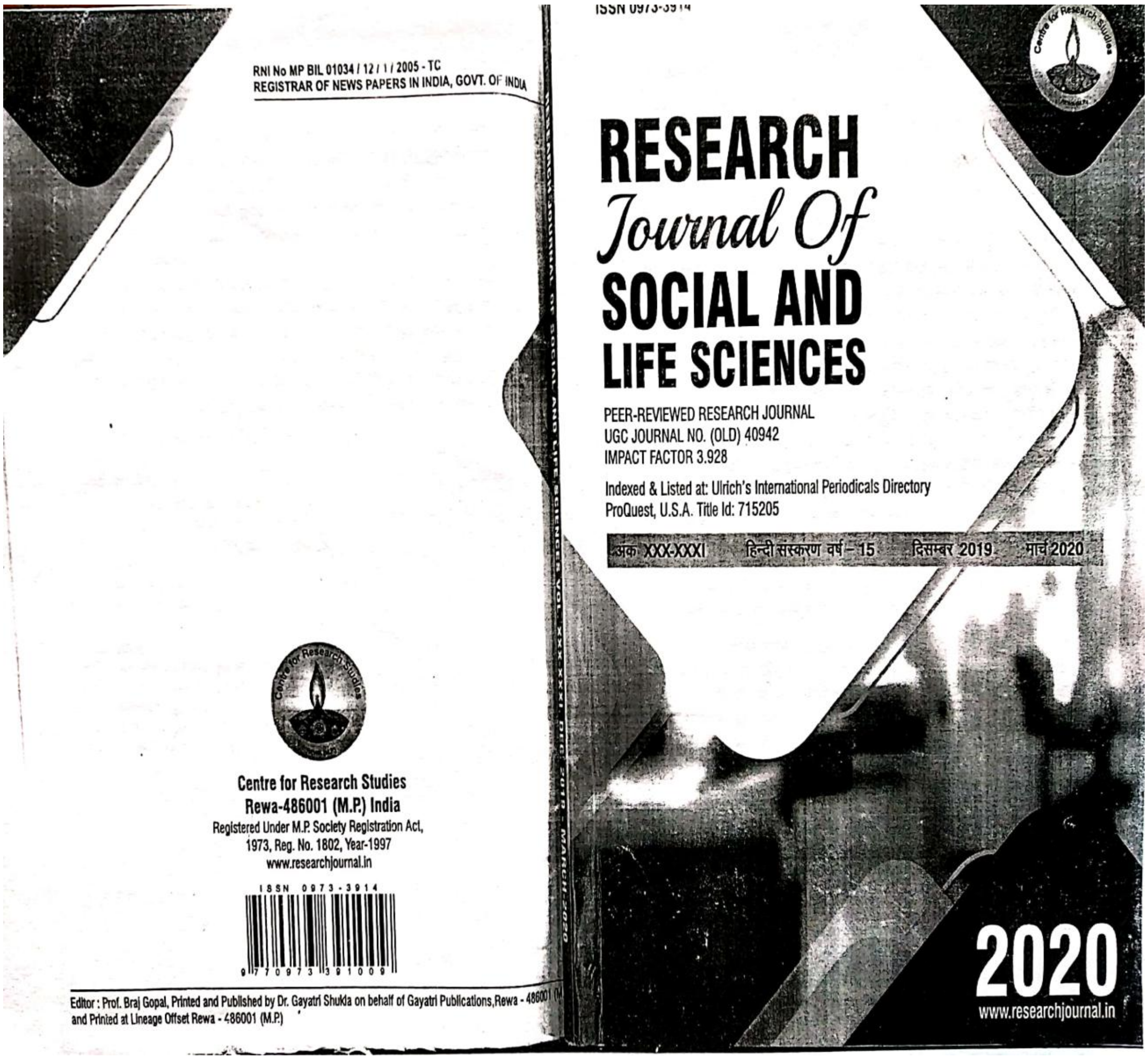

RNI No MP BIL 01034 / 12 / 1 / 2005 - TC
REGISTRAR OF NEWS PAPERS IN INDIA, GOVT. OF INDIA
Centre for Research Studies
Rewa-486001 (M.P.) India
Registered Under M.P. Society Registration Act, 1973, Reg. No. 1802, Year-1997
www.researchjournal.in
ISSN 0973-3914
Editor : Prof. Braj Gopal, Printed and Published by Dr. Gayatri Shukla on behalf of Gayatri Publications,Rewa - 486001 (M
and Printed at Lineage Offset Rewa - 486001 (M.P.)
ISSN 0973-3914
RESEARCH
Journal Of
SOCIAL AND
LIFE SCIENCES
PEER-REVIEWED RESEARCH JOURNAL
UGC JOURNAL NO. (OLD) 40942
IMPACT FACTOR 3.928
Indexed & Listed at: Ulrich's International Periodicals Directory
ProQuest, U.S.A. Title Id: 715205
अक XXX-XXXI
हिन्दी संस्करण वर्ष – 15
दिसम्बर 2019
मार्च 2020
2020
www.researchjournal.in

UGC Journal No. (Old) 40942,
Peer-Reviewed Research Journal
Impact Factor 3.928, ISSN 0973-3914
Vol.- XXX-XXXI, Hindi Edition, Year-15, Dec. 2019- March 2020

भारतीय चिंतन परम्परा में कबीर की वैचारिकी

• नरेन्द्र कुमार बौद्ध

सारांश- उनका मूल उद्देश्य एक समानान्तर सामाज का निर्माण, दलित मुक्ति और मानवतावाद है। साधारण, अदना, पत्राधारी ब्राह्मण कबीर का निशाना कभी नहीं था, क्योंकि दमनमूलक सामन्ती वर्ण-व्यवस्था का मुख्य संरक्षक कभी भी अदना गरीब ब्राह्मण नहीं है। तत्त्वज्ञान का दम्भ भरने वाला 'मनुस्मृति' जैसे शास्त्रों से बार-बार उद्धरण देकर विधि-निषेधों का निर्देश करने वाला, वर्णाश्रम एवं मोक्ष की दार्शनिक व्याख्या देने वाला उच्च धार्मिक आसनों पर बैठा सम्पन्न ब्राह्मण है। दलित का शत्रु गरीब अदना ब्राह्मण कभी नहीं है। धार्मिक सत्ता का फायदा उठानेवाला चतुर ब्राह्मण है। कबीर का विरोध सिर्फ उन ब्राह्मणों से है, जो मिथ्या-चेतनाओं के बल पर जनता को सुलाकर रखना चाहते हैं। कबीर के विद्रोह की खूबी यह है कि यह इकहरा नहीं है। वे ब्राह्मणों के साथ उसी उग्रता से मुल्लाओं की आलोचना भी करते हैं। वे बड़े साहस से ऐसा करते हैं। कबीर की दलित चेतना को भक्ति ने साहस से भर दिया था, तभी वे बोले-'हम न मरैं मरिहैं संसारा, हम कूँ मिल्या जियावन हारा।' यदि भगवान मर जाएँगे, तब जरूर हम भी मर जाएँगे। भगवान ही नहीं मरेंगे तो हम क्यों मरेंगे। कबीर आगे मन के पूरे जोर से कहते हैं, 'शाक्त मरेंगे, सन्त नहीं, क्योंकि हम राम का रसायन पीते हैं।'

मुख्य शब्द- *दलित, आत्म पहचान, पृथकवाद, परजीवी, संस्कृति।*

कबीर में दलित आत्मपहचान की अवधारणा एक खास तरह की वैयक्तिकता के मानवीय अहसास की ओर भी ले जाती थी, लेकिन वहाँ कोई पृथकतावाद न था। आत्मपहचान की पश्चिमी अवधारणा पृथकता के बोध पर जोर देती है, जबकि कबीर की आत्मपहचान का सम्बन्ध अपृथकता से है। जिय भारतीय समाज में भेद के सैकड़ों स्तर-उपस्तर हों, वही अपृथकता की सही आत्मपहचान है।

कबीर की भक्ति वैयक्तिक, मिश्रण शील और सहज थी। लेकिन ध्यान में रखना होगा कि वह मुख्यतः यह सामाजिक अनुभव देती है कि हम सभी एक समग्र के अंश हैं, इस प्रकार अन्तःसम्पर्कित और परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित हैं।

वे जितना ज्ञान पर जोर देते हैं, उतना ही प्रेम और श्रम पर भी। वे संन्यास और वैराग्य को लताड़ते हैं और श्रम पर जोर देते हैं।

कबीर दलित आत्मपहचान के संघर्ष को एक तरफ 'जाति न पूछौ साधु की' कहकर जाति-प्रथा-विरोध से जोड़ते हैं, दूसरी तरफ, जब वर्ग की अवधारणा का ऐतिहासिक अस्तित्व नहीं था, 'सूरा सो पहचानिए जो लरै दीन के हेत' कहकर जाति को

==========================

• अतिथि व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

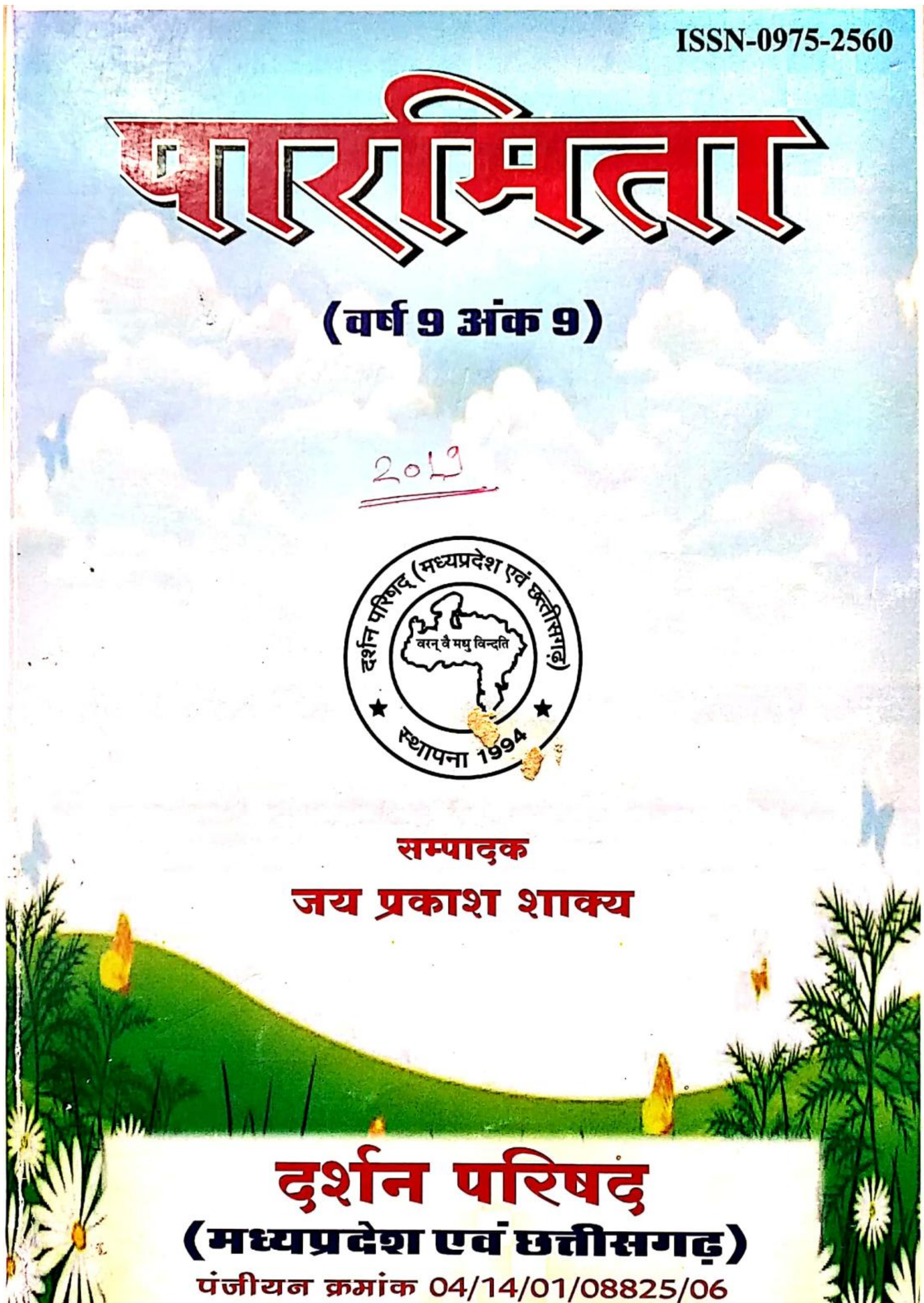
ISSN-0975-2560
पारमिता
(वर्ष 9 अंक 9)
2019
दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)
वरन् वै मधु विन्दति
स्थापना 1994
सम्पादक
जय प्रकाश शाक्य
दर्शन परिषद
(मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)
पंजीयन क्रमांक 04/14/01/08825/06
email:mpcgdarshanparishad@gmail.com

पुरूषार्थ व्यवस्था के समसामयिक अर्थ सन्दर्भ

डॉ. सत्यनारायण देवलिया
जनरल फैलो (आई.सी.पी.आर.)
दर्शन शास्त्र विभाग
डॉ.हरिसिंह गौर वि. वि. सागर (म.प्र.)
ई–मेलः–dr.sndevliya7@gmail.com

आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के चमत्कार के फलस्वरूप आज मनुष्य ने अपनी सुख सुविधा, स्वास्थ्य व लौकिक कल्याण के कई अत्याधुनिक साधन विकसित कर लिये है। यह मनुष्य की बौद्धिकता व संकल्प शक्ति का ही परिणाम है। विज्ञान की इस चरम प्रगति के युग में भी आज हम कई समस्याओं व संकटों से ग्रसित व भयभीत हैं। जिनमें प्रमुख हैं मनुष्य का चारित्रिक पतन जिससे भ्रष्टाचार, हिंसा, यौन उत्पीड़न, चोरी आदि की घटनाऐं साथ ही पर्यावरण असंतुलन से उत्पन्न समस्यायें, आतंकवाद, गरीबी, बेरोजगारी, आदि आदि समस्यायें व संकट।

मनुष्य ने अपनी बौद्धिकता से जहाँ आज इतना भौतिक विकास किया है, वहीं ये समस्याऐं भी अपना विकराल रूप लेती जा रहीं हैं. ऐसा क्यों हो रहा है? इस पर भी हमें विचार करना चाहिए। चूँकि हम विज्ञान के युग में जी रहे हैं अतः हम तार्किक दृष्टि से कही बात को ही उचित समझेंगे व स्वीकार करेंगे। या दूसरे शब्दों में कहें तो यदि हमें अपनी ज्ञान परम्परा का कोई प्राचीन सिद्धान्त ऐसा लगता है कि जिसमें मानव का सर्वांगीण कल्याण निहित है व वर्तमान उत्पन्न समस्याओं व संकटों का निदान भी उसमें निहित है, और जिसे आज पूरी तरह अपनाया नहीं जा रहा हो तो हमें उस सिद्धांन्त को पुर्नस्थापित करने के लिए लोगों को उसके प्रति सचेत करने के लिए आज के परिप्रेक्ष्य में उसकी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करनी पड़ेगी। भारतीयं दर्शन में मानवीय कल्याण की एक बहुत प्राचीन अवधारणा है. पुरूषार्थ व्यवस्था की अवधारणा । यहाँ पर हम पुरूषार्थ व्यवस्था के समसामयिक अर्थ सन्दर्भ जानने का प्रयास करेंगे।

भारतीय दर्शन के साथ–साथ विज्ञान की भी यह मान्यता है कि संसार में कोई भी वस्तु अकारण नहीं होती और संसार में कोई भी वस्तु निष्प्रयोजन भी नहीं होती है। यदि इस सिध्दांत को स्वीकार किया जाए तो हमें यह मानना पढ़ेगा कि मनुष्य का जन्म भी अकारण नहीं है और मनुष्य का जन्म निरूद्देश्य भी नहीं है। भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने जीवन के अस्थायित्व को ध्यान में रखते हुए मानव होने के प्रयोजन या उद्देश्य पर भी विचार किया। किस वस्तु की प्राप्ति में मनुष्य को अपनी शक्ति व्यय करना चाहिए। या इस संसार

Books

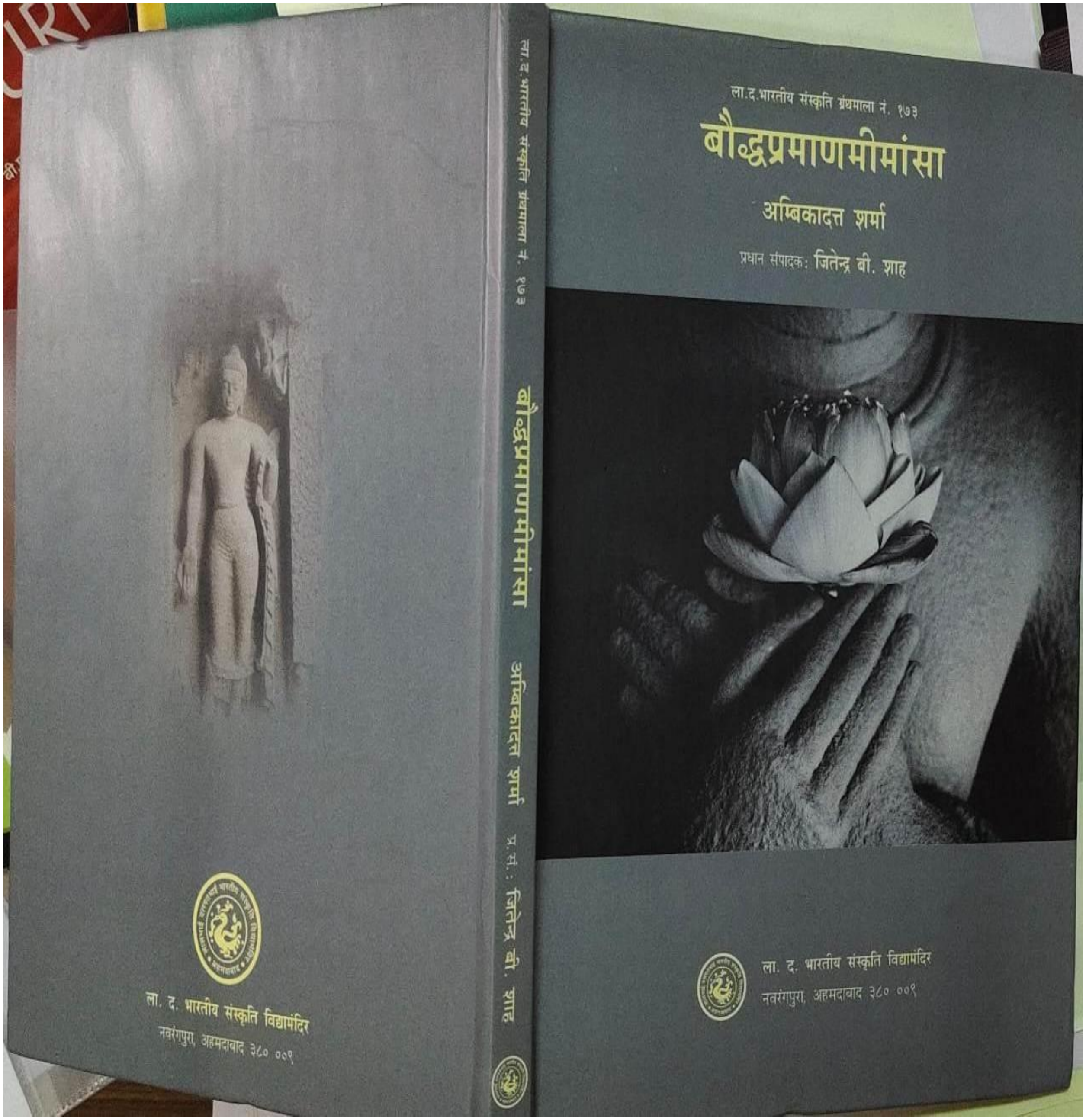

Name of the Author – Ambika Datta Sharma
Year of Publication – 2019
Title of the Book – बौद्धप्रमाणमीमांसा
ISBN No. – 978-81-85857-57-2
Name of the publisher – लाल भाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, नवरंगपुरा, अहमदाबाद,